विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण

प्रथम 2025

ISBN : 978-81-993854-0-5

मूल्य - 400/-

रचना - विचार संगम-भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

27

जातक कालीन शिक्षा के प्रमुख तत्व

नरेन्द्र सिंह नाथावत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वैदिक युग से जो शिक्षण परंपरा चली आ रही थी, वह जातक-युग में भी मूलतः सुरक्षित रही। वेदाध्ययन का वही महत्त्व उस समय भी था जो वैदिक युग में था। जातक कथाओं से यह ज्ञात होता है कि उस युग में शिक्षा के लगभग तेरह प्रमुख विषय पढ़ाए जाते थे — जिनमें राजनीति, नास्तिक-शास्त्र, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), दण्डनीति, तथा वैदिक साहित्य से संबंधित वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग (जैसे निरुक्त, कल्प आदि), दर्शन, धर्मशास्त्र आदि शामिल थे।

जातक-युग में वेदों का महत्त्व कम नहीं हुआ था। एक पुरोहित द्वारा राजा को दिया गया उपदेश इस युग की नैतिकता और शिक्षा-दर्शन को स्पष्ट करता है —

"राजन्! यदि कोई व्यक्ति बहुत विद्वान होकर भी पापकर्म करे और धर्माचरण न करे तो हजार वेदों का ज्ञान भी उसे दुःख से मुक्त नहीं कर सकता।"

यहाँ वेदाध्ययन और आचरण के संबंध को गहराई से रेखांकित किया गया है। वेदों का अध्ययन तभी सार्थक है जब वह संयम, सदाचार और आचरण के साथ जुड़ा हो। केवल ग्रंथों का उच्चारण या सैद्धांतिक ज्ञान किसी के लिए उपयोगी नहीं होता, जब तक उसे जीवन में व्यवहारिक रूप से नहीं अपनाया जाए।

गाथा के अंत में यह भी उल्लेख है कि उक्त उपदेश देने वाला पुरोहित स्वयं बुद्धदेव का पूर्वजन्म था — अर्थात् यह शिक्षा स्वयं बुद्ध के विचारों का प्रतिरूप है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जातक-युग में भी वेद, आचरण और नैतिकता को शिक्षा का अभिन्न अंग माना जाता था, और ज्ञान का मूल्य केवल तभी था जब वह जीवन में उतरे।

'सेल-सुत्त' से ज्ञात होता है कि जातक-युग में भी वैदिक अध्ययन उतनी ही प्रतिष्ठा रखता था जितनी वैदिक युग में। इसमें वर्णित शैल नामक ब्राह्मण एक अत्यंत विद्वान आचार्य थे, जो- निघंटु (वेदों का शब्दकोश), कल्प (यज्ञ-विधान और आचारशास्त्र), अक्षर-भेद, तीनों वेद, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र (चार्वाक दर्शन), तथा सामुद्रिक शास्त्र में निपुण थे।

इससे ज्ञात होता है कि उस काल में शिक्षा का दायरा अत्यंत व्यापक था — केवल धार्मिक या वेदाधारित नहीं, बल्कि लौकिक और तर्कशास्त्रीय ज्ञान को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता था।

सेल–सुत्त से यह भी प्रमाणित होता है कि गुरुकुल प्रणाली उसी प्रकार जीवित थी जैसी वैदिक युग में थी। शैल ब्राह्मण के आश्रम में तीन सौ विद्यार्थी अध्ययन करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षण संस्थान (आश्रम या गुरुकुल) सुव्यवस्थित और व्यापक रूप में संचालित होते थे। आचार्य स्वयं वेद–मंत्रों का पाठ पढ़ाते थे और विद्यार्थियों को शास्त्रों का गहन अभ्यास कराया जाता था।

इसी सुत्त में केणिय–जटिल की गाथा भी उल्लेखनीय है। बुद्धदेव जब उसके आश्रम में भोजन हेतु गए, तब भोजनोपरांत उन्होंने यह उपदेश दिया —

'यज्ञों में मुख्य अग्निहोत्र है,
छन्दों में मुख्य सावित्री है,
मनुष्यों में मुख्य राजा,
और नदियों में मुख्य सागर है।'

यह वचन बुद्ध के समय की धार्मिक–सांस्कृतिक दृष्टि और ज्ञान–परंपरा का प्रतीक है। इससे पता चलता है कि उस युग में यज्ञ, वेद और उनके अंगों को अब भी सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

अतः जातक–युग की शिक्षा ने न केवल वैदिक अध्ययन की परंपरा को जीवित रखा, बल्कि उसे व्यावहारिक, नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से भी विस्तारित किया।

'छन्दों में मुख्य गायत्री' वाक्य का तात्पर्य यह है कि बुद्धदेव ने छन्दों या वेद–मंत्रों में गायत्री को सर्वश्रेष्ठ माना। वस्तुतः यहाँ 'छन्द' शब्द का प्रयोग उन्होंने 'मंत्र' के अर्थ में किया है। वेद–मंत्र अनेक छन्दों में रचे गए हैं, जैसे गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, पंक्ति आदि। इनमें से गायत्री छन्द में रचा गया 'सावित्री मंत्र' — ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' वेदों का सबसे पवित्र और महत्वपूर्ण मंत्र है। यह ज्ञान, प्रकाश और चेतना का प्रतीक है। अतः जब बुद्धदेव ने कहा कि छन्दों में मुख्य गायत्री है, तो उनका अभिप्राय यह था कि वेद–मंत्रों में गायत्री सर्वश्रेष्ठ है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि बुद्धदेव ने 'मंत्र' शब्द के स्थान पर 'छन्द' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया कि वे अपने उपदेशों में अत्यधिक तकनीकी या वैदिक शब्दावली के स्थान पर लोकभाषा और सामान्य जन की समझ के अनुसार शब्दों का उपयोग करते थे। इस प्रकार गायत्री की महिमा की पुष्टि बुद्धदेव के वचनों में भी होती है।

प्राचीन वैदिक शिक्षा–पद्धति में केवल अर्थार्जन ही लक्ष्य नहीं था, अपितु मानव

के मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास को ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य माना गया था। यही भावना जातक-युग में भी विद्यमान थी। उस समय शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति के भीतर ज्ञान के माध्यम से सत्य का बोध कराना और उसके आचरण को शुद्ध बनाना था। ज्ञान के द्वारा जैसे शरीर का बाह्य मल स्नान से दूर होता है, वैसे ही अन्तर्मन का मल भी ज्ञान के स्नान से शुद्ध होता है। इसी कारण 'स्नातक' शब्द का अर्थ केवल शिक्षा की समाप्ति नहीं, बल्कि आत्मशुद्धि और आध्यात्मिक परिपक्वता भी माना गया। स्नान करने का प्रतीकात्मक अर्थ यह था कि विद्यार्थी अब न केवल बाह्य रूप से स्वच्छ है, बल्कि आंतरिक रूप से भी शुद्ध और आचारवान बन चुका है।

जातक-युग में शिक्षा का यही नैतिक और आत्मिक पक्ष प्रमुख था। अभ्युदय (भौतिक उन्नति) और श्रेय (आध्यात्मिक कल्याण) दोनों की सिद्धि के लिए सम्यक् शिक्षा को आवश्यक माना गया। वैदिक परंपरा की पंच-महाविद्याएँ — शब्द-विद्या, अध्यात्म-विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतु-विद्या और शिल्प-विद्या जातक-युग में भी यथावत् थीं। इन विद्याओं को बुद्धकालीन परंपरा में 'पंच-यान' कहा गया। पंच-यान का अर्थ है पाँच मार्ग या वाहन जिनके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान और मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। ये थे- बुद्धदेव का यान, बोधिसत्वों का यान, प्रत्येक बुद्ध का यान, श्रेष्ठ शिष्यों का यान और गृहस्थ शिष्यों का यान। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में शिक्षा केवल संन्यासियों या भिक्षुओं के लिए सीमित नहीं थी, बल्कि गृहस्थों के लिए भी उतनी ही आवश्यक समझी जाती थी।

इस प्रकार जातक-युग की शिक्षा प्रणाली ने वैदिक युग की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए उसे नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से विस्तारित किया। बुद्धदेव द्वारा गायत्री की महत्ता को स्वीकार करना, शिक्षा को आत्म-विकास का साधन मानना, तथा पंच-महाविद्याओं को पंच-यान के रूप में पुनः परिभाषित करना — ये सभी तथ्य इस बात का प्रमाण हैं कि जातक-युग की शिक्षा वस्तुतः वैदिक परंपरा की ही निरंतरता थी। उसमें रूपांतर अवश्य आया, परन्तु उसका मूल लक्ष्य वही रहा — ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति के अंतःकरण का परिष्कार और समाज में सत्य, सदाचार तथा करुणा की स्थापना।

जातक-युग की शिक्षा-पद्धति वैदिक परंपरा की निरंतरता और विकास का प्रतीक थी। पंच-यान, जो प्रारम्भ में वैदिक पंच-महाविद्याओं के रूप में प्रचलित थे, आगे चलकर बौद्ध दर्शन के मतवादों—महायान, हीनयान आदि—का रूप ले चुके थे। जातक-साहित्य में तक्षशिला का बार-बार उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि यह उस युग का प्रमुख शिक्षा केंद्र था। तक्षशिला में अनेक विद्यालय संचालित थे—वैदिक

विद्यालय, अष्टादश विद्यालय, शिल्पज्ञान, सैनिक, ज्योतिष और आयुर्वेद विद्यालय आदि। प्रत्येक विद्यालय में लगभग पाँच सौ छात्र अध्ययन करते थे।

वैदिक युग की भाँति जातक-युग में भी गुरु-दक्षिणा की परंपरा विद्यमान थी। निर्धन विद्यार्थी आचार्य के घर का कार्य करते थे, जो उनकी दक्षिणा मानी जाती थी। योग्य शिष्य को आचार्य अपने परिवार का सदस्य मानते और कभी-कभी अपनी कन्या का विवाह भी उससे कर देते थे। आचार्य को 'उपास्य देवता' का स्थान प्राप्त था। निर्धन परंतु योग्य शिष्य को 'धर्म-शिष्य' कहा जाता था और उसे आचार्य के निकट स्थान मिलता था।

महाभारत (वनपर्व 1/25, 11-12) और गुण जातक (157) में भी गुरु-शिष्य परंपरा का यही रूप वर्णित है। जातक-युग में शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास नहीं, बल्कि चरित्र-निर्माण और आत्म-संस्कार था। तक्षशिला जैसे शिक्षा केंद्रों ने इस युग को ज्ञान और संस्कृति का स्वर्ण युग बना दिया।

जातक-युग की शिक्षा-पद्धति में केवल आचार्य के यहाँ शरण लेना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था। विद्यार्थी की योग्यता, शील और आचरण की निरंतर परीक्षा ली जाती थी। आचार्य समय-समय पर विभिन्न उपायों से अपने शिष्यों के ज्ञान, बुद्धि और आचरण की परीक्षा करते थे। यदि कोई विद्यार्थी जड़बुद्धि, आलसी या अध्ययन में अयोग्य सिद्ध होता, तो आचार्य उसे अपने व्यय से ही घर वापस भेज देते थे। इससे शिक्षा में गुणवत्ता और अनुशासन का स्तर बना रहता था।

उस युग में शील और चरित्र को सर्वोपरि माना जाता था। यह दृढ़ विश्वास था कि जिसका चरित्र भ्रष्ट है, वह किसी ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। केवल शीलवान् व्यक्ति ही सच्चे ज्ञान का पात्र है। जातक-साहित्य में यह विचार मिलता है कि जो व्यक्ति अपात्र को दान देता है—चाहे वह धन का हो या ज्ञान का, वह व्यर्थ जाता है और अंतत: धोखा ही प्राप्त होता है—

अदेय्येसु ददं दानं देय्येसु नप्पवेच्छति।
आपासु व्यसनं पत्तो सहायं नाधिगच्छति।।

अर्थात् जो व्यक्ति अयोग्य को दान देता है और योग्य को नहीं देता, वह संकट के समय किसी सहायक को नहीं पाता। इस विचार से स्पष्ट होता है कि शिक्षा केवल ज्ञान का प्रसार नहीं थी, बल्कि योग्य पात्रों को ज्ञान प्रदान करने की सुविचारित प्रक्रिया थी।

जो विद्यार्थी शीलवान्, विनीत और परिश्रमी होते थे, उन्हें 'सिद्धिविहारिक' कहा जाता था। ऐसे विद्यार्थी आचार्य की दृष्टि में आदर्श शिष्य माने जाते थे। इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति की परंपरा आगे चलकर पाल काल के नालन्दा और

विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में भी देखी जाती है, जहाँ शिक्षा के साथ शील, अनुशासन और चरित्र-निर्माण को सर्वोपरि स्थान दिया गया।

वैदिक युग की शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य का संबंध केवल एकतरफा नहीं था, बल्कि उसमें परस्पर अनुशासन और नैतिक उत्तरदायित्व का गहरा भाव निहित था। यह केवल गुरु का अधिकार नहीं था कि वह शिष्य को शिक्षित करे, बल्कि शिष्य को भी यह अधिकार दिया गया था कि वह अपने गुरु के आचरण की परीक्षा करे और उसके व्यवहार पर दृष्टि रखे।

गुरु स्वयं अपने शिष्यों को यह निर्देश देते थे—

यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।

अर्थात् 'हे शिष्य! मेरे केवल उन आचरणों का ही अनुकरण करना जो श्रेष्ठ और सुचरित हैं, अन्यथा का नहीं।'

इससे स्पष्ट होता है कि गुरु अपने शिष्य को स्वतंत्र विचार और विवेक का अधिकार देता था। वह अपने अनुकरण के लिए विवेकपूर्ण चयन की स्वतंत्रता शिष्य को सौंपता था।

यह महान परंपरा बाद के रामायण और महाभारत युग में भी बनी रही। महर्षि व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि सभी आचार्यों के युग में शिष्य अपने गुरु के प्रति श्रद्धावान तो होते ही थे, परंतु अंधानुकरण के लिए बाध्य नहीं थे।

महाभारत में स्पष्ट कहा गया है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्ये भवति शासनम्।।

अर्थात् - ''यदि गुरु अभिमानी होकर कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान खो दे और अनुचित मार्ग पर चल पड़े, तो शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे सही मार्ग पर लाए, उसे अनुशासित करे।''

यह शिक्षा-दर्शन विश्व की किसी अन्य परंपरा में नहीं मिलता, जहाँ गुरु के प्रति इतनी नैतिक निगरानी और अनुशासन का अधिकार शिष्य को दिया गया हो। यह भारतीय शिक्षा-पद्धति की अद्वितीय विशेषता थी कि यहाँ श्रद्धा और विवेक दोनों का संतुलन था। गुरु को देवता समान माना गया, परंतु उसके अनुचित आचरण पर प्रश्न उठाना भी धर्म माना गया।

जातक कथाओं से स्पष्ट होता है कि यदि कोई गुरु प्रमादी होता था, तो उसका शिष्य भी उसे अनुशासित कर सकता था। यह दर्शाता है कि गुरु-शिष्य संबंध परस्पर नैतिक उत्तरदायित्व पर आधारित था।

वैदिक युग की भाँति स्वाध्याय — अर्थात् निरंतर वेदाध्ययन को जातक-युग में

भी अत्यंत महत्व प्राप्त था। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है —

'यद्यद्ध वाऽयं छन्दसः स्वाध्यायमधीते, तेन तेन है वास्य यज्ञकृतुनेष्टुं भवति... तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।''

अर्थात् जितना स्वाध्याय किया जाता है, उतना ही यज्ञ का फल मिलता है; अतः स्वाध्याय आवश्यक है।

जातक में एक आचार्य का उल्लेख है जो ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेद पढ़ाता था, पर गृहस्थ बनने पर उसका स्वाध्याय छूट गया। उसने बुद्ध से अपनी व्यथा कही, तब बुद्ध ने कहा कि बिना स्वाध्याय के तत्त्वज्ञान संभव नहीं, इसलिए पुनः अरण्यवासी जीवन अपनाओ।

जातक में एक गाथा आती है जिसमें कुछ शिष्यों में यह मिथ्या अहंकार उत्पन्न हो गया कि वे अपने आचार्य से अधिक विद्वान हो गए हैं। जब आचार्य को यह ज्ञात हुआ, तो उन्होंने एक प्रश्न पूछकर उनका अभिमान तोड़ दिया—

बहूनि नरसीसानि लोमसानि ब्रहानि च,
गीवासु पटिमुक्कानि कोचिदेवेत्थ कण्णवा।

अर्थात् अनेक सिर दिखाई देते हैं, वे सब बालों वाले हैं और गर्दन पर टिके हुए हैं, पर क्या यहाँ कोई कानवाला है?

यहाँ 'कानवाला' शब्द का तात्पर्य है — जो वास्तव में सुनने, समझने और ग्रहण करने की क्षमता रखता है।

यह गाथा बताती है कि जातक-युग में भी आचार्य शिष्यों के मानसिक और नैतिक विकास पर गहन ध्यान देते थे। वे केवल ज्ञान के दाता नहीं, बल्कि शिष्य के विवेक और विनम्रता के मार्गदर्शक भी थे। आचार्य द्वारा 'बोलकर पढ़ाने' की परंपरा वैदिक युग से चली आ रही थी, और यही परंपरा आज की मौखिक शिक्षण पद्धति का मूल स्रोत है।

जातक-युग में अध्ययन का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन ही नहीं, बल्कि यश, वैभव और आत्मिक तेज की प्राप्ति भी था। विद्यार्थी अपनी शिक्षा के माध्यम से अपने जीवन को सफल और सार्थक बनाना चाहता था। यह वही आदर्श था जो वैदिक युग में भी विद्यमान था। ऋग्वेद में विद्वान् के लिए कहा गया है —

पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः

विद्वान् पवित्र, तेजोमय और निर्मल बुद्धि वाले हों।

इसी भावना को बुद्धदेव ने भी जातक-युग में दोहराया। श्रावस्ती का एक ब्राह्मण जब क्षत्रियकुमारों को वेद पढ़ा रहा था, तब बुद्ध ने उसे उपदेश दिया —

यथोदके आविले अप्पसन्ने न पस्सति सिप्पिकसम्बुकञ्च... एवं अविले हि

चित्ते न पस्सति अत्तदत्थं परत्थं।

अर्थात् जैसे गंदले जल में सीप, शंख, बालू या मछलियाँ दिखाई नहीं देतीं, वैसे ही चंचल और अशुद्ध चित्त वाला व्यक्ति न आत्मकल्याण को देख पाता है, न परकल्याण को।

बुद्ध ने यह भी कहा कि जीवन में सुख की अपेक्षा दु:ख ही अधिक है —

सुखाद् वहुतरं दु:खं जीविते नास्ति संशयः।

अतः सभी दु:खों से मुक्ति का मार्ग विद्या द्वारा अविद्या का नाश है। यही शिक्षा का परम उद्देश्य था — ज्ञान से अज्ञान का निवारण और आत्मा की ज्योति का जागरण।

न्यायशास्त्र के आचार्य गौतम ने दु:ख के मूल कारण का अत्यंत तर्कसंगत क्रम प्रस्तुत किया—

दु:ख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायाद् अपवर्गः॥

अर्थात् मिथ्याज्ञान से दोष उत्पन्न होते हैं, दोषों से प्रवृत्तियाँ (कर्म) जन्म लेती हैं, प्रवृत्तियों से जन्म होता है, और जन्म से दु:ख की उत्पत्ति होती है। जब इनका एक-एक करके नाश होता है, तो अंततः अपवर्ग अर्थात् मोक्ष या दु:ख-निवृत्ति की प्राप्ति होती है।

इसलिए प्रश्न यह उठता है कि इस दु:ख के चक्र से मुक्ति कैसे मिले?

उत्तर है —

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।

अर्थात् प्राणी कर्मों से बँधता है, और विद्या से मुक्त होता है।

यह विद्या केवल लौकिक शिक्षा नहीं, बल्कि वह ज्ञान है जो वस्तु का यथार्थ परिचय कराता है। जब सत्य का बोध होता है, तो अज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों नष्ट हो जाते हैं, और वहीं से मुक्ति का मार्ग खुलता है।

जातक-युग की शिक्षा-पद्धति भी इसी सिद्धांत पर आधारित थी। वैदिक युग की तरह यहाँ भी शिक्षा का उद्देश्य केवल अर्थार्जन या प्रतिष्ठा नहीं था, बल्कि आत्मिक शुद्धि, ज्ञान की गहराई और मोक्ष की साधना थी।

पाठ्य-विषयों में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ — वही वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, नीति, चिकित्सा और शिल्प आदि विषय पढ़ाए जाते रहे। आचार्य और शिष्य का संबंध भी उतना ही पवित्र था, जितना वैदिक काल में।

इस प्रकार, वैदिक ऋषियों द्वारा स्थापित शिक्षा की जो परंपरा थी वह अपने स्वरूप में अपरिवर्तित रहकर जातक-युग तक अक्षुण्ण बनी रही। बाद में नगरों के विकास के साथ तक्षशिला, नालंदा, और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों ने इसी

वैदिक परंपरा को आगे बढ़ाया और उसे एक संगठित रूप दिया।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के विद्वान् डॉ. ए.एस. अल्तेकर अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति' में लिखते हैं कि जातक-युग में विद्यार्थी उपनयन संस्कार के तुरंत बाद नहीं, बल्कि 14-15 वर्ष की आयु में गुरुकुल भेजे जाते थे, जब वे आत्मसंयम और अनुशासन के योग्य हो जाते थे। कई धनी और सजग अभिभावक अपने बच्चों को दूर के गुरुकुलों में भेजना पसंद करते थे, ताकि वे वहाँ की पूर्ण शिक्षा और संस्कार पा सकें।

गुरु और शिष्य का संबंध पिता-पुत्र जैसा था — 'पुत्रमिवैनममिकांक्षन्'। जातक-युग के आचार्य अपने पेशे की पवित्रता का पूरा निर्वाह करते थे। डॉ. अल्तेकर का कथन है कि उस युग में धन और सम्मान का सीधा संबंध नहीं था; सम्मान चरित्र और कर्तव्यनिष्ठा से मिलता था।

जातक-युग की शिक्षा केवल विषयज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसका उद्देश्य था जीवन का विकास और समाज का उत्थान। आचार्य नि:स्वार्थ भाव से शिक्षण करते थे, और समाज तथा राज्य उनका पूरा सहयोग करते थे।

राज्य द्वारा शिक्षा-प्रसार के लिए योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी जाती थी, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है —

सर्वविद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद्भृत्तिपोषितम् ।
समाप्तिविद्यं तं दृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ॥

तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों में अनेक विद्यार्थी राजकीय छात्र थे। इस प्रकार शिक्षा को राष्ट्र और समाज दोनों के नैतिक उत्थान का साधन माना गया।

तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों के साथ-साथ जातक-युग में अनेक स्वतंत्र आचार्य भी स्वयं में एक-एक विद्यालय थे। विद्यार्थी उनके आश्रमों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते और जब आचार्य यह कह देते— 'जितना मैं जानता हूँ, उतना तू जानता है' — तब शिष्य को विदा दी जाती। ऐसे आचार्यों के शिष्य उतने ही सम्मानित माने जाते जितने किसी विश्वविद्यालय के स्नातक।

कभी-कभी विद्यार्थी प्रमाण-पत्र लेकर बिना दक्षिणा लौट आते, और पुन: उच्च ज्ञान के लिए लौट जाते — जैसे एक ब्राह्मणकुमार जिसे उसकी माता ने 'स्त्री-चरित्र' का अध्ययन करने भेजा।

इस युग में स्त्री-शिक्षा भी उन्नत थी। अनेक विदुषी स्त्रियाँ शास्त्रार्थ में दक्ष थीं। सारिपुत्त जैसे महान् भिक्षु को चार स्त्रियों ने शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। वैशाली की एक पण्डिता पाँच सौ मतों की ज्ञाता थी और उसका विवाह एक समान विद्वान से कराया गया ताकि विद्वत्ता की परंपरा बनी रहे। उनकी संतानों — एक पुत्र और चार

पुत्रियों ने भी माता-पिता से समान विद्या पाई। ये पुत्रियाँ नगर-नगर शास्त्रार्थ कर बौद्ध धर्म के आचार्यों को भी चुनौती देती थीं, जिससे उस युग की उच्च स्त्री-बौद्धिकता का परिचय मिलता है।

जातक-युग में स्त्री-शिक्षा को वैदिक परंपरा की भांति महत्व दिया जाता था। नारियाँ विदुषी थीं और शास्त्रार्थ में दक्ष। शिक्षा सभी वर्गों के लिए खुली थी, केवल पतित या दुराचारी व्यक्ति ही इसके अधिकारी नहीं माने जाते थे, क्योंकि गुप्त-विद्या का दुरुपयोग समाज और राष्ट्र के विनाश का कारण बन सकता था।

धर्मशास्त्रों में कहा गया कि दुष्ट स्वभाव वाला व्यक्ति वेदाध्ययन के योग्य नहीं होता— जैसे गाय का दूध स्वभावत: मीठा होता है, वैसे ही पतित का स्वभाव नहीं बदलता। बुद्ध ने भी कहा कि शिष्य में आठ गुण— शुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, उपपत्ति, अपोह और तत्त्वनिष्ठ बुद्धि होने चाहिए।

आचारहीन गुरु से शिक्षा लेना निषिद्ध था, क्योंकि चरित्रहीन शिक्षक का प्रभाव शिष्य को भ्रष्ट करता है। शिक्षा का उद्देश्य धनाजज़्न नहीं, बल्कि राष्ट्रनिर्माण था।

आचार्य कभी-कभी कुछ ज्ञान अपने पास रखते थे। इसे आचार्य-मुष्टि कहा जाता था, जो केवल योग्य शिष्य को अंत में प्रदान किया जाता। एक कथा में जब शिष्य ने गुरु को चुनौती दी, तो जनता ने गुरु का सम्मान करते हुए उस उद्धत शिष्य को दंडित किया। गुरु ने कहा कि अयोग्य व्यक्ति के हाथों विद्या विनाश का कारण बनती है, जैसे गलत बना जूता पैर को काटता है।

जातक कथाओं में आर्य और अनार्य का भेद जन्म से नहीं, गुण और आचरण से किया गया था। अत: पतित व्यक्ति को विद्यादान वर्जित था, यह नियम वैदिक युग से जातक-युग तक समान रूप से प्रचलित रहा।

निष्कर्षत: वैदिक युग से लेकर जातक-युग तक भारतीय शिक्षा-पद्धति का मूल उद्देश्य ज्ञान, चरित्र, और समाज-सेवा रहा। स्वाध्याय, गुरु-शिष्य परंपरा, स्त्री-शिक्षा, और सबके लिए शिक्षा का अधिकार इन युगों की विशेषताएँ थीं। शिक्षा का उद्देश्य केवल विषय ज्ञान नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक अंग का विकास था। आचार्य अपने शिष्यों को चरित्र, संयम और राष्ट्र-निष्ठा की शिक्षा देते थे। पतित या अयोग्य व्यक्ति को विद्या न देना और योग्य शिष्य को संपूर्ण ज्ञान प्रदान करना शिक्षा का सनातन नियम था। इस प्रकार जातक-युग की शिक्षा ने वैदिक आदर्शों को आगे बढ़ाते हुए ज्ञान, नैतिकता और मानवता के आधार पर एक सुदृढ़ समाज की रचना की।